भारतीय मृण्मूर्तिकला

नीरज कुमार पाण्डेय

भारतीय कला में मृण्मूर्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी सामग्री प्रचुर मात्रा में है एवं प्राचीन भी। प्राय: यह सर्वत्र प्राप्य हैं और आरम्भ से इनका सातत्य बना है। मृण्मूर्तिकला की परम्परा प्रस्तरमूर्तिकला से पूर्ववर्ती है और इनका प्रयोग और रचना विभिन्न प्रकार से होती थी। भारतीय परम्परा में पृथिवी को देवता की भांति सम्मान्य माना गया है। अत: कच्ची मृण्मूर्तियों का प्रयोग पूजा एवं अनुष्ठान के लिए सदा से होता आया है। पार्थिव लिंग पूजन की परम्परा अति महत्वपूर्ण और पवित्र मानी जाती है। यद्यपि मृण्मूर्तिकला को साधारणतया लोक कला कह कर पुकारते हैं किन्तु अभिजात्य वर्ग अथवा राजा इसे प्रोत्साहित करे तो वही उत्कृष्ट कोटि की कला हो जोती है।

मृण्मूर्ति के लिए अच्छे तालाब से मिट्टी लाई जाती थी। टूटने से बचाने के लिए मिट्टी में अनेक प्रकार की सामग्री मिलाई जाती थी। यज्ञकुण्ड के निर्माण के लिए बनाई जाने वाली ईटों के विषय में **कात्यायन शूल्बसूत्र**[1] तथा अन्य ईटों के लिए **विष्णुधर्मोत्तर पुराण** के उल्लेख विचारणीय हैं। इस संदर्भ में उल्लिखित कई वस्तुएं यथा ढाक (पलास) का काढा, बकरी का दूध आदि के विशेष गुणधर्मो को विज्ञान की कसौटी पर कसकर उनकी उपादेयता प्रमाणित की जा सकेगी। रंगों का प्रयोग भी मृण्मूर्तियों में हुआ है और पकी मृण्मूर्तियां इसके लिए अधिक चुनी गई।

मृण्मूर्तियों का सामाजिक परिवेश—भारतीय मृण्मूर्तियों के सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत उन्हें धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं प्रशासनिक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। धार्मिक परिवेश में पूजा, उत्सर्ग, अनुष्ठान और पर्व संबंधी मृण्मूर्तियां आती हैं। उधर इनका सामाजिक दृष्टि से उपयोग खिलौने, स्मृति चिन्ह, अलंकार, आभूषण, प्रदर्शनी, छपाई के ठप्पे, बाट, दीपक, घरों के नमूने (घरौंदे), पूजा सरोवर, वास्तु (भवन निर्माण), सांचे, यज्ञ एवं मकानों की ईटें और पारिवारिक एवं सामाजिक अनुष्ठान आदि के लिए होता था। शिक्षण के लिए इन्हें बच्चों को गिनती सिखाने, पारिवारिक जनों के परिचय, पशु, पक्षी, वृक्ष, प्रकृति एवं लेख पढ़ने और सिखाने के लिए होता था। प्रशासनिक दृष्टि से इन्हें मुद्रा, मोहर, राजनीतिक आदेश आदि के रूप में प्रयोग किया जाता था। मृण्मूर्तियों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक रूप से भी महत्व है।

भारत के कई ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई से प्रचुर मात्रा में मृण्मूर्तियां मिली हैं। उस सामग्री के आधार पर प्रत्येक युग के लिए मृण्मूर्तियों की वर्गीकृत सूची बनाई जा सकती है।

सैंधव एवं अतिप्राचीन मृण्मूर्तियां—सिन्धु संस्कृति के अवशेषों को प्राक् सिन्धु, सिन्धुकालीन और उत्तर सिन्धुकालीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। मेहरगढ़, सरायखोला, राणाघुंडाई, कोटदीजी, कुल्ली, जोब सभी स्थान पाकिस्तान में हैं और इनमें सैंधव सभ्यता से पहले के अवशेष मिले हैं। भारत में राजस्थान के गंगानगर जिले के कालीबंगा से भी सिन्धु सभ्यता से पूर्व समय के अवशेष मिले हैं और इन सबका समय अब से 4000 वर्ष पुराना है। सैंधव संस्कृति के चार प्रमुख केन्द्र थे जैसे—हड़प्पा, मोहनजादाड़ो, लोथल और कालीबंगा। तत्पश्चात् दायमाबाद, इनामगांव, मालवण, संघोल आदि में भी अवशेष मिले हैं जिनसे सिन्धु सभ्यता के विस्तार का संकेत मिलता है। यह सभ्यता पश्चिम से पूर्व की ओर 1600 कि.मी. से अधिक और उत्तर से दक्षिण की ओर 1100 कि.मी. क्षेत्र में विकसित हुई।

पूर्व सिन्धु मृण्मूर्तियों में कृषक और लोकजीवन की झलक मिलती है और सिन्धु अथवा हड़प्पा संस्कृति में नगरीय और उच्च सभ्यता की पुष्टि होती है और मृण्मूर्तियां भी इसके साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। बलूचिस्तान में मेहरगढ़ नामक स्थान से पांच मातृदेवियों की मूर्तियां सबसे प्राचीन हैं जिनका समय लगभग 7000 ई.पू. आंका गया है।

अतिप्राचीन अथवा समयसीमा से अतीत मृण्मूर्तियां सिन्धु संस्कृति और मौर्य काल के बीच की कड़ी हैं जिनमें पूरी आकृति मातृदेवी की है और चेहरा पशु या पक्षी आकृति का है। शरीर के कुछ अवयव और आभूषण हाथ से चिपका कर बनाये जाते थे और कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनसे इनके मातृदेवी होने की पुष्टि होती है।

मौर्य एवं शुंगकालीन मृण्मूर्तियां—मौर्यकाल की मृण्मूर्तियां वैसे तो कई स्थानों से मिली हैं पर प्रमुख रूप से मथुरा से प्राप्त भूरे एवं काले रंग की स्त्रीमूर्तियां जिनमें से अधिकतर को मातृदेवी के रूप में पहचाना गया है, कुछ खंडित पुरुषमूर्तियों के मस्तक, मानवाकार के कुछ पात्र तथा खिलौनों का समावेश है। शक्ति की उपासना केवल भारत में ही नहीं अपितु भारत के बाहर भी सहस्राब्दियों से होती आ रही है। शायद मथुरा से मिली मूर्तियां उसी की मौर्यकालीन कड़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें से कुछ माता और शिशु की भी मूर्तियां हैं। उन्नत स्तन और चौड़ी कमर होना इनके मातृत्व का सूचक है।

शुंग काल की मृण्मूर्तियां अधिकतर लाल रंग की हैं तथा समूची मूर्ति ही सांचे के द्वारा बनाई गई हैं। इन मूर्तियों में रमणियों के विभिन्न रूप, मिथुन और दम्पती, विभिन्न प्रकार के खिलौने तो मिले ही हैं पर साथ ही कई ऐसे भी ठीकरे प्राप्त हुए हैं जिनपर उदयन-वासवदत्ता की कथा, मछुआरा (सूर्पारक) को कामदेव के द्वारा दिया गया दण्ड, दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम-प्रसंग आदि कथायें भी अंकित हैं। इसी काल की कलाकृतियों में हमें लक्ष्मी के कई रूप, वसुधारा, नागी, रति, कामदेव, यक्ष, किन्नर आदि के भी दर्शन होते हैं। महत्व की बात तो यह है कि जिन सांचों से ये मूर्तियां बनती थीं उनमें से कुछ के नमूने भी हमें प्राप्त होते हैं। उत्तर प्रदेश में कौशाम्बी शुंगकालीन मृण्मूर्तियों का प्रमुख केन्द्र था। इसी क्रम में बंगाल के चन्द्रकेतुगढ़, तामलुक तथा दक्षिण भारत के सातवाहनकालीन तेर, पैठन आदि स्थानों से प्राप्त कलाकृतियां भी उल्लेखनीय हैं।

कुषाण एवं गुप्तकालीन मृण्मूर्तियां—कुषाण काल की मृण्मूर्तियों में शुंगकाल की तुलना में सांचे का प्रयोग कम हुआ है फलत: इस काल की कई स्त्री और पुरुष मूर्तियां जिनके हमें अधिकतर मस्तक ही प्राप्त हुए हैं, ठोस हैं। इसके नमूने हमें मथुरा, घोसी जिला (आजमगढ़), कौशाम्बी, पटना आदि अनेक स्थानों से मिले हैं। इसी काल में देवमूर्तियां भी प्रचुर मात्रा में बनी जिनमें महिषासुरमर्दिनी दुर्गा, पार्वती के साथ शिव, गजलक्ष्मी आदि प्रमुख हैं। पूर्व कुषाण एवं कुषाण काल में मिट्टी के पूजासरोवर भी बनते रहे। मथुरा के पास सोंख नामक स्थान पर जो खुदाई हुई वहां से हमें आठ प्रकार के पूजासरोवर प्राप्त हुए हैं और यह भी कहा जा सकता है कि इन पूजासरोवरों का मातृदेवी से निकट संबंध रहा।

गुप्त काल को प्राचीन भारतीय कला का स्वर्णकाल माना जाता है। इस काल की कला का सौन्दर्य पाषाण, धातु आदि के साथ-साथ मिट्टी के माध्यम से भी निखर उठा है। स्त्री और पुरुषों की विविध प्रकार की केशरचना जो राजघाट (वाराणसी) से मिले मिट्टी के खिलौनों में प्रत्यक्ष है, अपनी कहीं सानी नहीं रखती। अलक, भ्रमरक, मौलि आदि अनेक प्रकार यहाँ विद्यमान हैं। गुप्त काल में अहिच्छत्र जिला बरेली तथा भीतरगांव जिला कानपुर में ईंटों से बड़े सुन्दर और विशाल मन्दिर बने थे जिन्हें अनेक प्रकार के मृत्फलकों से अलंकृत किया गया था। इनमें **रामायण**, **महाभारत** की कथाओं के अतिरिक्त शिव तथा कृष्ण कथा से संबंधित अनेक फलक दर्शनीय हैं। गुप्त काल में मिट्टी के खिलौनों को सुन्दर ढंग से रंगा भी जाता था। सुन्दर केशविन्यास, सुन्दर लंबी आंखें, कुछ मोटे ओठ, उठी हुई ठुड्डी, शरीर के अवयवों का उचित अनुपात में अंकन आदि इस कला की विशेषताएं हैं जो मृण्मूर्तियों में देखी जा सकती हैं। गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों में अलंकार की कमी है। यद्यपि शरीर सौष्ठव एवं भावप्रकाश समुन्नत है।

गुप्तोत्तर काल की मृण्मूर्तियां—पहाड़पुर (बंगलादेश) की पार्थिव कला से सूचित होता है कि मृण्मूर्तियों के देशव्यापी आन्दोलन में बंगाल भी सम्मिलित था। वहां के मन्दिरों से अनेक मृत्फलक मिले हैं जिनमें धार्मिक और सामाजिक दोनों ही अंकन समाविष्ट है। त्रिमूर्ति ब्रह्मा, गणेश, शिव, उड़ते गंधर्व तथा स्त्रियों की भावमयी मूर्तियां उल्लेखनीय हैं।

लगभग 18-19वीं शताब्दी में निर्मित विष्णुपुर (पश्चिम बंगाल) के मृण्मूर्ति मन्दिरों में काल गति से हिन्दू, मुस्लिम और ब्रिटिश प्रभाव स्पष्टतया झलकता है। ये मन्दिर कृष्ण उपासक राजाओं ने बनवाये जिनमें रामायण, महाभारत दृश्य तो हैं ही साथ ही कभी-कभी शैव अंकनों के साथ सामाजिक दिग्दर्शन भी है। यही स्थिति कालना के मृण्मूर्ति मन्दिरों की है। महास्थान से भी कुछ फलक, ठीकरे, खिलौने और अलंकृत ईंटें मिली हैं, जो गुप्तोत्तर काल की कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

मृण्मूर्तियों की परख के लिये साहित्य की उपादेयता—जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण होता है उसी प्रकार कलाकृतियों के माध्यम से भी समाज प्रतिबिम्बित होता रहता है। इसी कारण कलाकृतियों को भली प्रकार समझने के लिये साहित्य से सहायता लेना अनिवार्य रहता है। शिवलिंग, दुर्गा, गणेश तथा अन्यान्य देवताओं की मृण्मूर्तियों के उल्लेख पुराणों में भरपूर मिलते हैं। इस प्रकार की मूर्तियां महीमयी, पार्थिव, आदि नामों से जानी जाती थी और इन्हें आग में नहीं पकाया जाता था। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की बड़ी मूर्ति बनाने की बात जैन ग्रन्थों में कही गई है। तदनुसार उल्लेखनीय है कि अहिच्छत्र के राजा ने एक ऐसी बड़ी मूर्ति बनवायी थी और उल्लेखनीय यह भी है कि अहिच्छत्र से हमें मिट्टी की मानवाकार मूर्तियां मिली भी है। देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त बच्चों के उपयोग में आने वाले खिलौने के सम्बन्ध में भी साहित्य से रोचक सामग्री मिलती है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक और काश्यप शिल्प में खिलौनों में सात विशेषताओं का होना आवश्यक कहा गया है। जैसे खिलौना छोटा हो, टेढ़ामेढ़ा न हो, कंटीला न हो, बिल्कुल ताजा बना हुआ न हो, भारी न हो, मुंह में आसानी से समाया जाने वाला न हो आदि। हमें प्राप्त होने वाले खिलौनों में ये सभी विशेषताएं मिलती है।

खिलौनों को रंगने की बात भी महाकवि कालिदासकृत **अभिज्ञानशाकुन्तल**[2] में उल्लेखित मिट्टी के रंगीन मोर से स्पष्ट हो जाती है। **महाभारत**[3] में द्रोण के शिष्य एकलव्य ने अपने गुरु की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की। **मृच्छकटिक** नाटक का नाम मिट्टी की गाड़ी के आधार पर रक्खा गया है।

मृण्मूर्तियों का प्रतिमाशास्त्रीय विवेचन—प्राचीन साहित्य और **ऋग्वेद** में मातृस्तन्य पीने का उल्लेख है। इस प्रकार की मृण्मूर्तियां शुंगकाल में मिलती हैं। गजलक्ष्मी एक लोकप्रिय अंकन था जिसका अभिप्राय कृषि और वर्षा के माध्यम से समृद्धि का उद्भव था। लक्ष्मी को अभिषेक कराते काले हाथी घुमड़ती काली घटाओं के प्रतीक हैं। कुषाण काल तक की मृण्मूर्तियों में विष्णु नहीं मिलते जबकि प्रस्तर कला में उनकी बहुलता है। कृष्ण को पहलवान के रूप में पूजा जाता था और मानसोल्लास में कृष्ण पूजन के पश्चात् मल्लयुद्ध करने का विधान है। मृण्मूर्तिकला में इस प्रकार के फलक प्राप्त हुए हैं। जैन मृण्मूर्तियां प्राय: नहीं हैं, जबकि प्रस्तरमूर्तियों की प्रचुरता है। भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में सुरक्षित भीटा से प्राप्त कुषाणकालीन मृण्मूर्ति में शिव और पार्वती अपने वाहन क्रमश: बैल और सिंह पर आसीन हैं।

मृण्मुद्राएं—इतिहास के अन्य स्रोतों में मृण्मुद्राओं का भी विशेष स्थान है क्योंकि इनका राजाज्ञा, व्यापार और पहचान के लिए प्रयोग होता था। अनेक प्राचीन संदर्भों और विशेष रूप से **कौटिल्य अर्थशास्त्र** (2.34) में मुद्राओं का उपयोग और दुरुपयोग दोनों ही दरबारी षडयंत्रों, व्यापार एवं प्रेम-प्रपञ्चों में होने का उल्लेख मिलता है। नगर प्रवेश, परिचयपत्र और पासपोर्ट के लिए भी मुद्रा का प्रयोग होता था और उसके लिए शुल्क के निर्धारण का भी प्रावधान था। राजा द्वारा लेख के नीचे अपने हस्ताक्षर एवं मुद्रा लगाने की भी प्रथा थी। जीते हुए व्यक्ति को मुद्रांकित पत्र प्रदान किया जाता था जिसे जय पत्र कहा गया है। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग हर्ष के हस्ताक्षर सहित मुद्रा का पत्र प्राप्त कर अनेक स्थानों पर गया जहां उसका भव्य स्वागत किया गया। राजा अथवा व्यक्ति के मरने के बाद उसकी मुद्रा को नष्ट करने का भी विधान था। राज्यारोहण के समय हर्ष को जब स्वर्णमुद्रा प्रदान की गई तो वह पृथ्वी पर गिर गई। अनेक सभासदों ने इसे अपशकुन माना किन्तु हर्ष ने इसे पृथ्वी पर शासन करने का शुभ शकुन स्वीकार किया। यद्यपि धातु, हाथीदांत, पत्थर आदि की मुद्रायें भी चलती थी किन्तु अधिकांशतया मिट्टी की मुद्राओं का वर्चस्व था। धार्मिक स्थानों और स्तूपों पर

शुभवाक्यों में मृण्मुद्राएं अंकित की जाती थी। गिलगित ग्रंथों में इसके पुण्य का विशेष उल्लेख है। जादूगरी और विषनिवारण के लिए भी मुद्रा का प्रयोग हुआ जिसमें प्राय: सर्पाकृति बनी होती थी। कभी-कभी गलत या विचित्र अक्षर लिखकर कूटमुद्रा बनाई जाती थी ताकि उसका उपयोग व्यक्ति विशेष अथवा उसके विश्वासपात्रों तक सीमित रहे।

मृण्मूर्तिकला से संबंधित समस्यायें—इस कला पर अनेक संकट आते रहे हैं और वे आज भी विद्यमान हैं। अब से लगभग दो ढाई हजार वर्ष पहले जब पत्थर का प्रचलन प्रारंभ हो गया तो मृण्मूर्तिकला को प्रथम आघात लगा। कालगति से कुछ नई समस्यायें उत्पन्न हुई। अब पोर्सीलीन, धातु, प्लास्टिक, कागज, पॉलीथीन आदि माध्यम उपलब्ध हुए हैं जो अपेक्षाकृत अधिक सुविधाजनक और टिकाऊ हैं। अत: मृण्मूर्तियां उपेक्षित हैं। इसके साथ ही ईंधन, पैकिंग, यातायात और तालाबों के पट जाने से उपयुक्त मिट्टी का अभाव भी इस कला के प्रोत्साहन में बाधक है। नवयुवक परम्परागत व्यवसाय को छोड़ कर कम परिश्रम वाले व्यवसायों की ओर आकृष्ट हो रहे हैं और इसके साथ ही मृण्मूर्तियों के विपणन और विज्ञापन की भी व्यवस्था लगभग नहीं के बराबर है। कुल मिलाकर समाज की अभिरुचि और दर्शन इस विशिष्ट कला के प्रति असहयोगी है। तथापि अपनी अनेक विशेषताओं के कारण यह जीवित है और कहीं-कहीं आज भी इसे मान्यता प्राप्त है। कुछ पर्वों और उत्सवों के समय तो इसका विराट् रूप दिखाई देता है।

सारांशत: मृण्मूर्तिकला में सामाजिक जीवन का अपूर्व चित्रण किया गया है। यह कला जनता को सहज सुख देती थी। इन मूर्तियों का मूल्य न्यून था, इनका उत्पादन सरल था और इनका उठाना-रखना भी सुखकर था। अत: भारत के नगरों और ग्रामों में यह कला सब जगह छा गई।

सन्दर्भ

ज्ञान-प्रवाह द्वारा आयोजित भारतीय मृण्मूर्तियां विषयक गहन अध्ययन शिविर में डा. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, डा. शचिन्द्र शेखर विश्वास, प्रो. ठाकुर प्रसाद वर्मा और प्रो. रमेश चन्द्र शर्मा द्वारा जनवरी 2002 में दिये गये व्याख्यानों पर आधारित।

1. पञ्चविभागेन बृहती तस्य दशमविभागेन पादमात्री भावती (कात्यायन शूल्ब सूत्र V. 6.)
2. तद् गच्छ मदीये उटजे सङ्कोचनस्य ऋषिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति। (शाकुन्तल 7.16)
3. स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परंतप:।
   अरण्यमनुसम्प्राप्य कृत्वा द्रोणं महीमयम्।।
   तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा।
   इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थित:।। (महाभारत 1.131. 33-34)

* * *